International Journal of Web of Multidisciplinary Studies
(Peer-Reviewed, Open Access, Fully Refereed International Journal)
website: *https://ijwos.com* OPEN ACCESS E-ISSN : 3049-2424
Volume 3 Issue 2 , Feb 2026
DOI: https://doi.org/10.71366/ijwos03022668481

सत्यशोधक समाज से नवयान बौद्ध धर्म तक : सामाजिक क्रांति की निरंतरता का विश्लेषण

डॉ. ज्योति कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर अम्बेडकर विचार एवं सामाजिक कार्य विभाग, तिलका माँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

Article Info

Article History:

Published:28 Feb 2026

Publication Issue:
Volume 3, Issue 2
February-2026

Page Number:
561-569

Corresponding Author:
डॉ. ज्योति कुमार

Abstract:

भारतीय समाज का इतिहास गहरे सामाजिक विभाजनों, विशेषकर जाति–आधारित असमानताओं, छुआछूत, लैंगिक भेदभाव और धार्मिक वर्चस्ववाद से निर्मित रहा है। इन संरचनात्मक असमानताओं ने समाज के एक बड़े वर्ग शूद्रों, अतिशूद्रों, दलितों तथा महिलाओं को सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित रखा। ऐसे परिदृश्य में सामाजिक सुधार आंदोलनों ने न केवल इन असमानताओं को चुनौती दी, बल्कि एक न्यायपूर्ण, समतामूलक और मानवतावादी समाज की स्थापना की दिशा में वैचारिक आधार भी प्रदान किया। इसी क्रम में महात्मा ज्योतिराव फुले द्वारा स्थापित *'सत्यशोधक समाज'* और डॉ. भीमराव अंबेडकर द्वारा प्रवर्तित 'नवयान बौद्ध धर्म' भारतीय सामाजिक क्रांति के दो महत्वपूर्ण पड़ाव हैं, जो समय और संदर्भ के अंतर के बावजूद एक साझा लक्ष्य सामाजिक न्याय और मानव मुक्ति की ओर अग्रसर हैं। सत्यशोधक समाज की स्थापना 1873 में फुले ने इस उद्देश्य से की थी कि ब्राह्मणवादी वर्चस्व, धार्मिक पाखंड और जातिगत ऊँच–नीच की संरचना को चुनौती दी जा सके। फुले ने शिक्षा, विशेषकर स्त्री और शूद्र शिक्षा, को सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख साधन माना और यह प्रतिपादित किया कि ज्ञान के अभाव में शोषण की संरचनाएँ और अधिक मजबूत होती हैं। उन्होंने धार्मिक ग्रंथों की आलोचनात्मक पुनर्व्याख्या करते हुए यह स्थापित किया कि सामाजिक असमानता कोई दैवी व्यवस्था नहीं, बल्कि मानव निर्मित संरचना है, जिसे बदला जा सकता है। *'सत्यशोधक समाज'* ने जाति–आधारित भेदभाव के विरुद्ध एक वैकल्पिक सामाजिक चेतना का निर्माण किया, जिसमें समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के मूल्य निहित थे। दूसरी ओर, 20वीं सदी में नवयान बौद्ध धर्म के माध्यम से डॉ. अंबेडकर ने सामाजिक क्रांति को एक नए वैचारिक और आध्यात्मिक आयाम प्रदान किया। अंबेडकर का यह मानना था कि हिंदू धर्म की जाति–आधारित संरचना के भीतर रहकर दलितों की मुक्ति संभव नहीं है, इसलिए उन्होंने एक ऐसे धर्म की तलाश की जो समानता, तर्क और मानव गरिमा पर आधारित हो। बौद्ध धर्म के नवयान रूप में उन्होंने 'प्रज्ञा, करुणा और समता' को केंद्र में रखते हुए एक ऐसी जीवन–दृष्टि प्रस्तुत की, जो न केवल धार्मिक, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। यह केवल धर्मांतरण नहीं, बल्कि एक सशक्त सामाजिक–वैचारिक आंदोलन था, जिसने दलित समुदाय को आत्मसम्मान, पहचान और अधिकारों के लिए संगठित किया।

इन दोनों आंदोलनों के बीच एक स्पष्ट वैचारिक निरंतरता दिखाई देती है। जहाँ फुले ने सामाजिक अन्याय के विरुद्ध चेतना जगाने और शिक्षा के माध्यम से शोषण के ढाँचे को चुनौती देने का कार्य किया, वहीं अंबेडकर ने उस चेतना को संवैधानिक, राजनीतिक और धार्मिक स्तर पर विस्तार दिया। फुले की विचारधारा ने अंबेडकर को प्रेरित किया, और अंबेडकर ने उसे एक व्यापक सामाजिक क्रांति में रूपांतरित किया। इस प्रकार 'सत्यशोधक समाज' से 'नवयान बौद्ध धर्म' तक की यात्रा केवल दो ऐतिहासिक घटनाओं का क्रम नहीं, बल्कि भारतीय समाज में समानता और न्याय की निरंतर खोज का प्रतीक है। अतः यह विषय न केवल ऐतिहासिक विश्लेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि समकालीन भारतीय समाज को समझने के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक है। यह अध्ययन इस बात की पड़ताल करता है कि किस प्रकार फुले और अंबेडकर के विचारों और आंदोलनों ने सामाजिक क्रांति की एक सतत परंपरा को जन्म दिया, जो आज भी सामाजिक न्याय, समानता और मानवाधिकारों की लड़ाई में मार्गदर्शक बनी हुई है।[1]

Keywords: सत्यशोधक समाज, नवयान बौद्ध धर्म, सामाजिक क्रांति, जाति उन्मूलन, सामाजिक न्याय

Copyright © 2025 The Author(s) : This is an open access article under the CC BY license (http://creativecommons.org/licenses/by-nc/4.0/)

भारतीय इतिहास में सामाजिक न्याय की यात्रा को केवल राजनीतिक या सत्ता परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में समझना उसके वास्तविक स्वरूप को सीमित कर देना होगाय यह मूलतः 'चेतना के परिवर्तन' की एक दीर्घकालिक, बहुआयामी और संघर्षपूर्ण प्रक्रिया रही है, जिसमें समाज के वंचित, शोषित और हाशिए पर पड़े वर्गों ने अपनी अस्मिता, अधिकार और सम्मान की पुनर्प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयास किया। इस व्यापक सामाजिक क्रांति की वैचारिक और संगठित नींव 19वीं सदी में ज्योतिराव फुले ने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना के माध्यम से रखी, जिसका मूल उद्देश्य ब्राह्मणवादी वर्चस्व, जाति आधारित असमानता और लैंगिक भेदभाव को चुनौती देना था।[2] फुले ने शिक्षा, विशेषकर स्त्री और दलित शिक्षा, को सामाजिक मुक्ति का सबसे प्रभावी साधन माना और समाज में व्याप्त अंधविश्वासों, रूढ़ियों तथा धार्मिक आडंबरों के विरुद्ध तर्क और विवेक का मार्ग प्रस्तुत किया। 'सत्यशोधक समाज' ने न केवल सामाजिक संरचना की आलोचना की, बल्कि एक वैकल्पिक, समानतामूलक और न्यायपूर्ण समाज की परिकल्पना भी प्रस्तुत की, जिसमें मनुष्य की पहचान उसकी जाति या जन्म से नहीं, बल्कि उसके कर्म और मानवता से निर्धारित होती है।[3] इसी वैचारिक धारा को 20वीं सदी में भीमराव रामजी अंबेडकर ने और अधिक गहराई, व्यापकता तथा संस्थागत रूप प्रदान किया। अंबेडकर ने यह समझा कि केवल सामाजिक सुधार आंदोलनों के माध्यम से स्थायी परिवर्तन संभव नहीं है, बल्कि इसके लिए कानूनी, राजनीतिक और धार्मिक स्तर पर भी क्रांतिकारी परिवर्तन आवश्यक है। उन्होंने जाति व्यवस्था को न केवल सामाजिक अन्याय का आधार माना, बल्कि इसे एक ऐसी संरचना के रूप में देखा, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांतों के विरुद्ध है। इसी संदर्भ में उन्होंने 'नवयान बौद्ध धर्म' को अपनाया, जो पारंपरिक बौद्ध धर्म की पुनर्व्याख्या करते हुए उसे आधुनिक मूल्यों तर्क, मानवतावाद, सामाजिक न्याय और समता से जोड़ता है।[4] नवयान बौद्ध धर्म केवल एक धार्मिक परिवर्तन नहीं था, बल्कि यह एक वैचारिक और सामाजिक आंदोलन था, जिसने दलित समुदाय को आत्मसम्मान, पहचान और स्वतंत्रता का एक नया आधार प्रदान किया। इस प्रकार, 'सत्यशोधक समाज' से 'नवयान बौद्ध धर्म' तक की यह यात्रा भारतीय समाज में सामाजिक क्रांति की निरंतरता को दर्शाती है, जहाँ फुले द्वारा प्रारंभ की गई चेतना की लौ को अंबेडकर ने एक व्यापक और संगठित आंदोलन में परिवर्तित किया। यह प्रक्रिया केवल अतीत की एक ऐतिहासिक घटना नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए भी एक प्रेरणास्रोत है, जो यह सिखाती है कि वास्तविक परिवर्तन तब संभव होता है, जब समाज के मूलभूत ढाँचों जाति, पितृसत्ता और असमानता को चुनौती देकर एक न्यायपूर्ण और समतामूलक व्यवस्था की स्थापना की जाए।[5]

सत्यशोधक समाजरू मानसिक गुलामी के विरुद्ध विद्रोह (1873)

19वीं सदी का भारतीय समाज केवल सामाजिक असमानताओं से ही नहीं, बल्कि एक गहरी जड़ें जमाए हुए वैचारिक और मानसिक दासता से भी ग्रस्त था, जहाँ मनुष्य की पहचान, उसकी गरिमा और उसके अधिकार जन्म के आधार पर निर्धारित कर दिए जाते थे। इस व्यवस्था में शूद्रों और अति–शूद्रों को न केवल आर्थिक और सामाजिक रूप से वंचित रखा गया, बल्कि उन्हें शिक्षा, धर्म और ज्ञान के क्षेत्र से भी व्यवस्थित रूप से दूर रखा गया, ताकि वे अपनी ही स्थिति को चुनौती देने में सक्षम न हो सकें।[6] ऐसे जटिल और दमनकारी सामाजिक परिदृश्य में ज्योतिराव फुले द्वारा 24 सितंबर 1873 को स्थापित सत्यशोधक समाज एक साधारण सामाजिक संगठन नहीं, बल्कि एक गहन वैचारिक क्रांति का आरंभ था। फुले ने यह भली–भाँति समझ लिया था कि जब तक शोषित वर्ग अपने ही दमन को 'स्वाभाविक' या 'दैवीय व्यवस्था' मानता रहेगा, तब तक कोई भी बाहरी सुधार स्थायी परिवर्तन नहीं ला सकता।[7] इसलिए उन्होंने सबसे पहले उस मानसिक ढाँचे को चुनौती दी, जो मनुष्य को अपनी ही हीनता को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है। सत्यशोधक समाज का उद्देश्य केवल सामाजिक सुधार नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना का पुनर्निर्माण था– एक ऐसा पुनर्निर्माण, जो व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करे, उसे आत्मसम्मान का बोध कराए और उसे अन्याय के विरुद्ध खड़े होने का साहस प्रदान करे। यह आंदोलन इस विचार पर आधारित था कि सत्य की खोज (सत्य–शोधन) के बिना न तो ज्ञान संभव है और न ही मुक्तिय और यह सत्य केवल धार्मिक ग्रंथों में नहीं, बल्कि तर्क, अनुभव और मानवीय संवेदना में निहित है।[8]

(i) पुरोहितवाद का अंत और धार्मिक संरचना का लोकतंत्रीकरण

फुले ने भारतीय धार्मिक व्यवस्था के उस केंद्रीय स्तंभ को चुनौती दी, जिसमें पुरोहित वर्ग को ईश्वर और सामान्य जनता के बीच एक अनिवार्य माध्यम के रूप में स्थापित किया गया था। यह व्यवस्था केवल धार्मिक आस्था का प्रश्न नहीं थी, बल्कि यह सामाजिक शक्ति और नियंत्रण का एक सशक्त उपकरण थी, जिसके माध्यम से एक विशेष वर्ग ने न केवल धार्मिक ज्ञान, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक संसाधनों पर भी अपना प्रभुत्व कायम रखा हुआ था। फुले ने इस संरचना

को अस्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर और मनुष्य के बीच किसी भी प्रकार के मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने आध्यात्मिक अनुभव का अधिकारी है।[9] उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि धर्म का उद्देश्य मनुष्य को स्वतंत्र, जागरूक और नैतिक बनाना होना चाहिए, न कि उसे अंधविश्वास, भय और निर्भरता के जाल में बाँध देना। इस दृष्टिकोण के माध्यम से फुले ने धार्मिक क्षेत्र का लोकतंत्रीकरण करने का प्रयास किया, जिसमें हर व्यक्ति को समान रूप से धार्मिक अधिकार प्राप्त हो। उन्होंने विवाह, उपासना और अन्य सामाजिक–धार्मिक अनुष्ठानों को पुरोहितों के नियंत्रण से मुक्त करने का आह्वान किया, ताकि समाज का प्रत्येक सदस्य बिना किसी बिचौलिए के अपने जीवन के महत्वपूर्ण निर्णय स्वयं ले सके। इस प्रकार, उनका यह प्रयास केवल धार्मिक सुधार तक सीमित नहीं था, बल्कि यह सामाजिक समानता और आत्मनिर्भरता की दिशा में एक व्यापक क्रांतिकारी कदम था।[10]

(ii) तर्क, विज्ञान और शिक्षा : चेतना के पुनर्निर्माण का आधार

फुले के विचारों में शिक्षा केवल ज्ञान प्राप्ति का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का मूल आधार थी। उन्होंने इसे *'तृतीय रत्न'* या *'तीसरी आँख'* कहा, जो व्यक्ति को अज्ञानता, अंधविश्वास और सामाजिक शोषण के अंधकार से बाहर निकालकर उसे विवेक, तर्क और आत्मसम्मान के प्रकाश में ले आती है। फुले का मानना था कि जब तक समाज के वंचित वर्ग विशेषकर स्त्रियाँ और दलित शिक्षा से वंचित रहेंगे, तब तक वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं हो पाएँगे और न ही अपने शोषण के विरुद्ध प्रभावी संघर्ष कर सकेंगे।[11] इसलिए उन्होंने शिक्षा को एक क्रांतिकारी उपकरण के रूप में प्रस्तुत किया, जो न केवल व्यक्ति के बौद्धिक विकास को संभव बनाता है, बल्कि उसे सामाजिक अन्याय के प्रति संवेदनशील और सक्रिय भी बनाता है। सावित्रीबाई फुले के साथ मिलकर उन्होंने स्त्री शिक्षा और दलित शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य किए, वे उस समय के सामाजिक परिवेश में अत्यंत साहसिक और अभूतपूर्व थे। उन्होंने यह सिद्ध किया कि शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति अपनी वास्तविक स्थिति को समझ सकता है और परिवर्तन की दिशा में ठोस कदम उठा सकता है। इस प्रकार, तर्क और विज्ञान के माध्यम से उन्होंने एक ऐसे समाज की परिकल्पना की, जो अंधविश्वासों और रूढ़ियों से मुक्त होकर प्रगतिशील, विवेकशील और मानवीय मूल्यों पर आधारित हो।[12]

(iii) 'गुलामगिरी' के माध्यम से शोषण की संरचना का विश्लेषण

गुलामगिरी फुले की वह महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत शोषण और असमानता के तंत्र का गहन, तार्किक और ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस पुस्तक के माध्यम से उन्होंने यह उजागर किया कि किस प्रकार धार्मिक ग्रंथों, मिथकों और सामाजिक परंपराओं के माध्यम से एक ऐसी व्यवस्था को स्थापित और वैध ठहराया गया है, जो शूद्रों और अति–शूद्रों को स्थायी रूप से अधीन और निर्भर बनाए रखती है।[13] *'गुलामगिरी'* में फुले ने यह भी स्पष्ट किया कि यह दासता केवल बाहरी नहीं है, बल्कि यह मानसिक स्तर पर भी कार्य करती है, जहाँ शोषित वर्ग स्वयं को हीन मानने लगता है और अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हो जाता है। इस मानसिकता को बदलना ही उनके आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य था। उन्होंने इस पुस्तक के माध्यम से न केवल शोषणकारी संरचनाओं की आलोचना की, बल्कि एक वैकल्पिक समाज की परिकल्पना भी प्रस्तुत की, जिसमें समानता, न्याय और मानवता के मूल्य प्रमुख हों। *'गुलामगिरी'* इस अर्थ में केवल एक साहित्यिक कृति नहीं, बल्कि एक वैचारिक घोषणापत्र है, जिसने भारतीय समाज में सामाजिक न्याय और दलित चेतना के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[14]

(iv) महिलाओं और वंचित वर्गों के सशक्तिकरण का समावेशी दृष्टिकोण

फुले का सामाजिक आंदोलन अपने स्वरूप में अत्यंत समावेशी था, जिसमें उन्होंने केवल जातिगत भेदभाव का ही नहीं, बल्कि लैंगिक असमानता का भी विरोध किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि समाज में महिलाओं की स्थिति भी उतनी ही दयनीय है, जितनी कि दलित और शूद्र वर्गों की, और जब तक महिलाओं को समान अधिकार और अवसर नहीं मिलेंगे, तब तक कोई भी सामाजिक क्रांति पूर्ण नहीं मानी जा सकती।[15] उन्होंने बाल विवाह, सती प्रथा, विधवा उत्पीड़न और स्त्री शिक्षा पर प्रतिबंध जैसी कुरीतियों का विरोध किया और महिलाओं को शिक्षा, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान के माध्यम से सशक्त बनाने का प्रयास किया। उनके लिए सामाजिक न्याय का अर्थ केवल एक वर्ग विशेष की मुक्ति नहीं, बल्कि समाज के हर उस व्यक्ति की स्वतंत्रता और सम्मान सुनिश्चित करना था, जो किसी न किसी रूप में शोषण

का शिकार रहा है। इस प्रकार, उनका दृष्टिकोण व्यापक और मानवीय था, जो समानता और न्याय के सार्वभौमिक सिद्धांतों पर आधारित था।[16]

इस प्रकार, सत्यशोधक समाज केवल एक ऐतिहासिक घटना या संगठन नहीं, बल्कि एक सतत वैचारिक और सामाजिक आंदोलन था, जिसने भारतीय समाज में परिवर्तन की एक नई चेतना को जन्म दिया। फुले ने जिस 'मानसिक क्रांति' की शुरुआत की, उसने आगे चलकर भीमराव रामजी अंबेडकर जैसे महान विचारकों को प्रेरित किया, जिन्होंने इस चेतना को संवैधानिक, राजनीतिक और धार्मिक स्तर पर और अधिक सशक्त रूप प्रदान किया।[17] सत्यशोधक समाज ने यह स्थापित किया कि वास्तविक स्वतंत्रता केवल बाहरी बंधनों से मुक्ति नहीं है, बल्कि यह मानसिक, सामाजिक और वैचारिक स्तर पर समानता, आत्मसम्मान और न्याय की स्थापना से जुड़ी हुई है। यह आंदोलन आज भी उतना ही प्रासंगिक है, क्योंकि यह हमें यह सिखाता है कि किसी भी समाज में स्थायी और सार्थक परिवर्तन तभी संभव है, जब उसके मूलभूत ढाँचों जाति, पितृसत्ता और अज्ञानता को चुनौती देकर एक समतामूलक और न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना की जाए।[18]

डॉ. अंबेडकर का आगमन : फुले की विरासत का विस्तार

भारतीय सामाजिक परिवर्तन की दीर्घकालिक प्रक्रिया में ज्योतिराव फुले और भीमराव रामजी अंबेडकर के विचारों के बीच जो वैचारिक सेतु स्थापित होता है, वह केवल दो महान व्यक्तित्वों के बीच का संबंध नहीं, बल्कि एक सतत सामाजिक क्रांति की निरंतरता का सशक्त प्रमाण है।[19] फुले ने 19वीं सदी में जिस सामाजिक चेतना को जन्म दिया जो जाति, पितृसत्ता और धार्मिक वर्चस्व के विरुद्ध एक साहसिक प्रतिरोध था उसे अंबेडकर ने 20वीं सदी में एक संगठित, संस्थागत और व्यापक आंदोलन का रूप प्रदान किया। डॉ. अंबेडकर द्वारा फुले को अपना *'गुरु'* स्वीकार करना केवल व्यक्तिगत श्रद्धा का प्रतीक नहीं था, बल्कि यह उस वैचारिक परंपरा की स्वीकृति थी, जिसमें सामाजिक न्याय, समानता और मानव गरिमा को सर्वोच्च मूल्य माना गया। अंबेडकर ने फुले के विचारों को केवल आगे बढ़ाने का कार्य नहीं किया, बल्कि उन्होंने उन्हें नए ऐतिहासिक संदर्भों, आधुनिक राजनीतिक संरचनाओं और वैश्विक वैचारिक धाराओं के साथ जोड़ते हुए एक समग्र सामाजिक दर्शन के रूप में विकसित किया।[20] इस प्रकार, उनका आगमन भारतीय समाज में एक नए युग की शुरुआत के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ विचार, संघर्ष और संस्थागत परिवर्तन एक साथ मिलकर एक व्यापक सामाजिक क्रांति का निर्माण करते हैं। डॉ. अंबेडकर ने यह गहराई से अनुभव किया कि फुले द्वारा परिकल्पित 'सामाजिक लोकतंत्र' केवल वैचारिक स्तर पर सीमित नहीं रह सकता, बल्कि उसे व्यवहारिक और संस्थागत रूप में लागू करना आवश्यक है। फुले ने जिस प्रकार समाज की मानसिकता, धार्मिक संरचनाओं और सांस्कृतिक मूल्यों को चुनौती दी थी, वह एक प्रारंभिक और अत्यंत महत्वपूर्ण कदम थाय किन्तु अंबेडकर ने यह समझा कि इन परिवर्तनों को स्थायी बनाने के लिए राज्य की शक्ति, कानून की वैधता और संवैधानिक ढाँचे का सहारा लेना अनिवार्य है।[21] इसी कारण उन्होंने भारतीय संविधान के निर्माण में केंद्रीय भूमिका निभाते हुए समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के सिद्धांतों को न केवल सैद्धांतिक रूप से स्थापित किया, बल्कि उन्हें विधिक अधिकारों के रूप में परिभाषित किया। संविधान के माध्यम से उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि प्रत्येक नागरिक चाहे वह किसी भी जाति, धर्म या लिंग का हो कानून की दृष्टि में समान हो और उसे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए एक सशक्त कानूनी संरचना प्राप्त हो। इस प्रकार, अंबेडकर ने फुले के सामाजिक आंदोलन को एक संवैधानिक क्रांति में रूपांतरित किया, जहाँ न्याय केवल एक आदर्श नहीं, बल्कि एक संरक्षित और लागू होने वाला अधिकार बन गया।[22]

जहाँ फुले ने *'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता'* और जाति व्यवस्था की वैचारिक आलोचना करते हुए समाज के सामने एक नई सोच प्रस्तुत की, वहीं अंबेडकर ने इस आलोचना को एक व्यापक सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन में परिवर्तित किया। उन्होंने जाति को केवल एक सामाजिक बुराई के रूप में नहीं देखा, बल्कि इसे एक ऐसी जटिल और संगठित संरचना के रूप में समझा, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और मानवाधिकारों को गहराई से प्रभावित करती है।[23] अंबेडकर के लिए जाति उन्मूलन केवल एक सुधारात्मक प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि यह एक मूलभूत परिवर्तन का प्रश्न था, जिसके बिना किसी भी प्रकार का लोकतंत्र अधूरा और असमान रहेगा। उन्होंने शिक्षा, संगठन और संघर्ष के माध्यम से समाज के वंचित वर्गों को सशक्त बनाने का प्रयास किया और यह स्पष्ट किया कि जब तक समाज के सबसे निचले स्तर पर स्थित व्यक्ति को समान अवसर और सम्मान नहीं मिलेगा, तब तक किसी भी प्रकार की प्रगति को वास्तविक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार, उन्होंने फुले

के विचारों को एक ठोस रणनीति और आंदोलनात्मक दिशा प्रदान की, जिसमें वैचारिक स्पष्टता और व्यावहारिक क्रियान्वयन का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।[24]

इसके साथ ही, अंबेडकर ने यह भी समझा कि सामाजिक परिवर्तन केवल कानूनी और राजनीतिक उपायों तक सीमित नहीं रह सकताय इसके लिए एक गहरा नैतिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण भी आवश्यक है। इसी संदर्भ में उन्होंने 'धम्म' की अवधारणा को अपनाया और उसे एक नए रूप 'नवयान बौद्ध धर्म' में प्रस्तुत किया।[25] यह नवयान केवल पारंपरिक धार्मिक आस्था का पुनरुत्थान नहीं था, बल्कि यह एक वैचारिक और नैतिक क्रांति थी, जिसमें तर्क, मानवतावाद, समानता और सामाजिक न्याय को केंद्र में रखा गया। अंबेडकर ने बौद्ध धर्म को इसलिए चुना, क्योंकि उसमें जाति व्यवस्था, पितृसत्ता और अंधविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं था, और वह एक ऐसे समाज की परिकल्पना करता था, जहाँ सभी मनुष्य समान और स्वतंत्र हों। 'धम्म' के माध्यम से उन्होंने दलित समुदाय को एक नई पहचान, आत्मसम्मान और सांस्कृतिक आधार प्रदान किया, जिससे वे अपने अतीत की दासता से मुक्त होकर एक नए भविष्य की ओर अग्रसर हो सकें।[26] यह प्रक्रिया केवल धार्मिक परिवर्तन नहीं थी, बल्कि यह एक गहन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन थी, जिसने समाज के वंचित वर्गों को अपने अस्तित्व और गरिमा का बोध कराया। अंततः, डॉ. अंबेडकर का योगदान यह सिद्ध करता है कि उन्होंने फुले की विरासत को केवल संरक्षित नहीं किया, बल्कि उसे एक व्यापक, गहन और बहुआयामी स्वरूप प्रदान किया। फुले ने जिस 'चेतना की क्रांति' की शुरुआत की थी, अंबेडकर ने उसे 'अधिकारों की क्रांति', 'संवैधानिक क्रांति' और 'पहचान की क्रांति' में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार, दोनों विचारकों के बीच का संबंध केवल ऐतिहासिक या वैचारिक नहीं, बल्कि एक जीवंत और निरंतर विकसित होती हुई परंपरा का प्रतीक है, जो आज भी भारतीय समाज में समानता, न्याय और मानव गरिमा के संघर्ष को दिशा और प्रेरणा प्रदान करती है। यह निरंतरता हमें यह सिखाती है कि सामाजिक परिवर्तन एक एकल घटना नहीं, बल्कि एक सतत प्रक्रिया है, जिसमें विचार, संघर्ष, संगठन और संस्थागत परिवर्तन सभी का समन्वय आवश्यक होता है।[27]

सामाजिक क्रांति की निरंतरता : प्रमुख कड़ियाँ

'सत्यशोधक समाज' से *'नवयान बौद्ध धर्म'* तक की ऐतिहासिक यात्रा भारतीय समाज में परिवर्तन की एक ऐसी सतत धारा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें समय, परिस्थितियाँ और नेतृत्व बदलते रहे, परंतु मूल मूल्य और उद्देश्य निरंतर एक समान बने रहे। यह यात्रा केवल दो विचारकों या दो आंदोलनों की कहानी नहीं है, बल्कि यह उस गहरी सामाजिक चेतना का विकास है, जिसने भारतीय समाज में समानता, न्याय और मानव गरिमा के लिए संघर्ष को निरंतर जीवित रखा।[28] ज्योतिराव फुले और भीमराव रामजी अंबेडकर के विचारों में यह निरंतरता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जहाँ दोनों ने अलग–अलग ऐतिहासिक संदर्भों में कार्य करते हुए भी समान मूलभूत सिद्धांतों मानवीय गरिमा, शिक्षा और समानता को अपने चिंतन और संघर्ष का आधार बनाया। यह निरंतरता इस बात का प्रमाण है कि सामाजिक क्रांति केवल एक क्षणिक घटना नहीं होती, बल्कि यह एक दीर्घकालिक प्रक्रिया है, जिसमें विचारों का संचय, अनुभवों का विकास और संघर्षों की निरंतरता शामिल होती है।[29]

(i) मानवीय गरिमा

इस निरंतरता की सबसे केंद्रीय और आधारभूत कड़ी *'मानवीय गरिमा'* का सिद्धांत है, जिसे फुले और अंबेडकर दोनों ने अपने–अपने सामाजिक दर्शन का मूल आधार बनाया। फुले का 'सत्यधर्म' और अंबेडकर का 'धम्म' इस विचार पर आधारित हैं कि समाज की किसी भी व्यवस्था का अंतिम उद्देश्य मनुष्य की गरिमा, स्वतंत्रता और सम्मान की रक्षा करना होना चाहिए। फुले ने अपने समय में यह साहसिक प्रतिपादन किया कि कोई भी मनुष्य जन्म के आधार पर श्रेष्ठ या हीन नहीं होता, और यह धारणा कि कुछ लोग *'ऊँचे'* और कुछ *'नीचे'* हैं, केवल एक सामाजिक निर्माण है, जिसे धार्मिक और सांस्कृतिक आधार देकर स्थायी बना दिया गया है।[30] उन्होंने इस विचारधारा को चुनौती देते हुए यह स्पष्ट किया कि प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से सम्मान और अधिकार का अधिकारी है। अंबेडकर ने इसी विचार को और अधिक गहराई और व्यापकता प्रदान करते हुए 'धम्म' के माध्यम से एक नैतिक और सामाजिक दर्शन प्रस्तुत किया, जिसमें मनुष्य को केंद्र में रखा गया और सभी प्रकार के भेदभाव को अस्वीकार किया गया। उनके अनुसार, यदि कोई धर्म या सामाजिक व्यवस्था मनुष्य की गरिमा को नष्ट करती है, तो वह धर्म नहीं, बल्कि अन्याय का उपकरण है। इस प्रकार, दोनों

विचारकों ने यह स्थापित किया कि वास्तविक सामाजिक परिवर्तन तभी संभव है, जब समाज का केंद्र मनुष्य की गरिमा और सम्मान हो, न कि परंपराएँ, रूढ़ियाँ या धार्मिक आडंबर।[31]

(ii) शिक्षा का महत्व

सामाजिक क्रांति की दूसरी महत्वपूर्ण और स्थायी कड़ी 'शिक्षा' है, जिसे फुले और अंबेडकर दोनों ने मुक्ति का सबसे प्रभावी और स्थायी साधन माना। सावित्रीबाई फुले के साथ मिलकर फुले ने जिस समय स्त्रियों और दलितों के लिए पहली कन्या पाठशाला की स्थापना की, वह केवल एक शैक्षणिक पहल नहीं थी, बल्कि यह उस समय की सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध एक क्रांतिकारी विद्रोह था, जिसने ज्ञान पर एकाधिकार की धारणा को तोड़ने का कार्य किया। फुले का यह विश्वास था कि शिक्षा व्यक्ति को केवल साक्षर नहीं बनाती, बल्कि उसे अपनी स्थिति का बोध कराती है, उसे तर्कशील बनाती है और उसे अन्याय के विरुद्ध खड़े होने का साहस देती है।[32] इसी परंपरा को अंबेडकर ने और अधिक संगठित और व्यापक रूप में आगे बढ़ाया। उन्होंने 'पीपल्स एजुकेशन सोसाइटी' की स्थापना करके यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया कि शिक्षा समाज के हर वर्ग तक पहुँचे, विशेषकर उन वर्गों तक जो ऐतिहासिक रूप से इससे वंचित रहे हैं। अंबेडकर का यह स्पष्ट मत था कि शिक्षा के बिना कोई भी समाज न तो अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है और न ही अपने विकास की दिशा निर्धारित कर सकता है। उन्होंने शिक्षा को केवल व्यक्तिगत उन्नति का साधन नहीं, बल्कि सामूहिक मुक्ति का माध्यम माना। इस प्रकार, शिक्षा दोनों विचारकों के लिए एक ऐसा सशक्त उपकरण थी, जिसने समाज के वंचित वर्गों को आत्मनिर्भर, जागरूक और संघर्षशील बनाने में निर्णायक भूमिका निभाई।[33]

(iii) समानता का अधिकार

सामाजिक क्रांति की तीसरी और अत्यंत महत्वपूर्ण कड़ी 'समानता' का सिद्धांत है, जो फुले और अंबेडकर दोनों के चिंतन का केंद्रबिंदु रहा है। फुले ने अपने समय में किसानों, मजदूरों और शूद्र–अति–शूद्र वर्गों के अधिकारों की बात करते हुए यह स्पष्ट किया कि समाज में व्याप्त असमानता केवल आर्थिक नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्तरों पर भी गहराई से विद्यमान है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जब तक समाज के सभी वर्गों को समान अवसर, सम्मान और अधिकार प्राप्त नहीं होंगे, तब तक कोई भी समाज न्यायपूर्ण नहीं हो सकता।[34] अंबेडकर ने इस विचार को एक और अधिक सशक्त और संस्थागत रूप प्रदान किया, जब उन्होंने भारतीय संविधान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए 'मौलिक अधिकारों' को उसमें समाहित किया। संविधान के माध्यम से उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि प्रत्येक नागरिक को समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार और विधिक संरक्षण प्राप्त हो, और किसी भी प्रकार के भेदभाव को कानूनी रूप से अस्वीकार्य घोषित किया जाए। यह केवल एक कानूनी सुधार नहीं था, बल्कि यह एक सामाजिक क्रांति का औपचारिक रूप था, जिसने सदियों से वंचित और उत्पीड़ित वर्गों को पहली बार समान नागरिक के रूप में मान्यता और अधिकार प्रदान किए।[35]

(iv) समग्र निरंतरता और वर्तमान प्रासंगिकता

इस प्रकार, *'सत्यशोधक समाज'* से *'नवयान बौद्ध धर्म'* तक की यात्रा में मानवीय गरिमा, शिक्षा और समानता जैसे तत्व एक सतत और अविच्छिन्न धारा के रूप में प्रवाहित होते रहे हैं। यह निरंतरता इस बात को रेखांकित करती है कि सामाजिक क्रांति केवल व्यक्तियों के प्रयासों का परिणाम नहीं होती, बल्कि यह उन मूल्यों और विचारों की स्थिरता पर आधारित होती है, जो समय के साथ विकसित होते हुए भी अपने मूल स्वरूप को बनाए रखते हैं। फुले और अंबेडकर के विचार आज भी इसलिए प्रासंगिक हैं, क्योंकि वे हमें यह सिखाते हैं कि किसी भी समाज में वास्तविक और स्थायी परिवर्तन तभी संभव है, जब वह मनुष्य की गरिमा को केंद्र में रखे, शिक्षा को प्राथमिकता दे और समानता को अपने विकास का आधार बनाए। यह निरंतरता न केवल अतीत की एक ऐतिहासिक विरासत है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए एक मार्गदर्शक सिद्धांत भी है, जो हमें एक अधिक न्यायपूर्ण, समतामूलक और मानवीय समाज के निर्माण की दिशा में प्रेरित करता है।[36]

नवयान बौद्ध धर्म : क्रांति का चरमोत्कर्ष (1956)

सामाजिक क्रांति की निरंतरता के संदर्भ में सत्यशोधक समाज से लेकर नवयान बौद्ध धर्म तक की वैचारिक यात्रा भारतीय समाज के इतिहास में एक गहन, बहुआयामी और परिवर्तनकारी प्रक्रिया के रूप में सामने आती है। यह यात्रा केवल दो संगठनों या विचारधाराओं के बीच का साधारण संक्रमण नहीं है, बल्कि यह उस दीर्घकालिक संघर्ष की अभिव्यक्ति है जो भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत, लैंगिक, धार्मिक और आर्थिक असमानताओं के विरुद्ध निरंतर चलता रहा है। इस पूरी प्रक्रिया में जो तत्व सर्वाधिक स्थायी और केंद्रीय रूप में उभरता है, वह है मानवीय गरिमा का विचार, जो फुले और अंबेडकर दोनों के चिंतन का मूलाधार रहा है। यह मानवीय गरिमा केवल सैद्धांतिक अवधारणा नहीं, बल्कि एक सक्रिय सामाजिक–राजनीतिक कार्यक्रम है, जिसका उद्देश्य मनुष्य को हर प्रकार के दमन, शोषण और अपमान से मुक्त कर उसे सम्मानपूर्ण जीवन प्रदान करना है। महात्मा ज्योतिराव फुले द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज ने भारतीय समाज में पहली बार संगठित रूप से ब्राह्मणवादी वर्चस्व, धार्मिक पाखंड और जातिगत ऊँच–नीच के विरुद्ध आवाज उठाई।[37] फुले ने *'सत्यधर्म'* की अवधारणा के माध्यम से यह प्रतिपादित किया कि सच्चा धर्म वह है जो मनुष्य की स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व को बढ़ावा दे, न कि उसे किसी कृत्रिम सामाजिक श्रेणीकरण में बाँध दे। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि धर्म का उद्देश्य मनुष्य को विभाजित करना नहीं, बल्कि उसे एकजुट करना होना चाहिए। इस दृष्टिकोण में एक प्रकार का मानवतावादी और तर्कवादी आधार निहित था, जिसने आगे चलकर आधुनिक सामाजिक आंदोलनों को गहराई से प्रभावित किया। विशेष रूप से, फुले का शिक्षा पर जोर, स्त्री–शिक्षा का समर्थन, तथा शूद्र–अतिशूद्रों के अधिकारों के लिए उनका संघर्ष, सामाजिक क्रांति की उस आधारभूमि का निर्माण करता है, जिस पर आगे अंबेडकर का चिंतन विकसित होता है।[38]

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने इस वैचारिक परंपरा को न केवल आगे बढ़ाया, बल्कि उसे एक नए दार्शनिक, संवैधानिक और वैश्विक आयाम से समृद्ध किया। उन्होंने जाति व्यवस्था को केवल सामाजिक समस्या के रूप में नहीं देखा, बल्कि इसे एक संरचनात्मक अन्याय के रूप में विश्लेषित किया, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता, अवसर और गरिमा को मूलतः बाधित करता है।[39] अंबेडकर का मानना था कि जब तक इस व्यवस्था को जड़ से समाप्त नहीं किया जाएगा, तब तक वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना संभव नहीं है। इसी कारण उन्होंने 'धम्म' की पुनर्व्याख्या करते हुए नवयान बौद्ध धर्म को अपनाया, जो पारंपरिक बौद्ध धर्म से अलग एक आधुनिक, तर्कसंगत और सामाजिक न्याय पर आधारित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। नवयान में धर्म का अर्थ केवल व्यक्तिगत मुक्ति नहीं, बल्कि सामूहिक कल्याण, नैतिक उत्तरदायित्व और सामाजिक समता है।[40] इस पूरी वैचारिक यात्रा में *'सामाजिक न्याय'* एक ऐसी अवधारणा के रूप में उभरती है, जो निरंतर दोनों विचारकों को जोड़ती है। फुले ने जहाँ सामाजिक असमानता के विरुद्ध वैचारिक और सामाजिक आंदोलन खड़ा किया, वहीं अंबेडकर ने उसे संवैधानिक और कानूनी आधार प्रदान किया।[41] भारतीय संविधान में निहित समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के सिद्धांत इस बात का प्रमाण हैं कि यह विचारधारा केवल सैद्धांतिक नहीं रही, बल्कि उसने संस्थागत रूप भी ग्रहण किया। इसके साथ ही, आत्मसम्मान और पहचान की भावना भी इस प्रक्रिया का अभिन्न अंग रही है। सत्यशोधक समाज ने शूद्रों और स्त्रियों को यह सिखाया कि वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करें और अपने अस्तित्व को स्वीकारें, जबकि नवयान बौद्ध धर्म ने उन्हें एक नई सांस्कृतिक और नैतिक पहचान प्रदान की, जो उन्हें सामाजिक हीनता से मुक्त करती है।[42]

इसके अतिरिक्त, इस निरंतरता को समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम इसे केवल अतीत की घटना के रूप में न देखें, बल्कि वर्तमान सामाजिक–राजनीतिक संदर्भों में भी इसकी प्रासंगिकता को पहचानें। आज भी भारतीय समाज में जातिगत भेदभाव, लैंगिक असमानता और सामाजिक विषमताएँ विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं।[43] ऐसे में फुले और अंबेडकर की विचारधारा हमें न केवल इन समस्याओं की जड़ को समझने में सहायता करती है, बल्कि उनके समाधान के लिए एक वैचारिक और नैतिक दिशा भी प्रदान करती है। यह विचारधारा हमें यह सिखाती है कि सामाजिक परिवर्तन केवल कानूनों के माध्यम से नहीं, बल्कि चेतना, शिक्षा और सामूहिक संघर्ष के माध्यम से संभव होता है। अंततः, सत्यशोधक समाज से नवयान बौद्ध धर्म तक की यह यात्रा भारतीय समाज में सामाजिक क्रांति की एक सतत, जीवंत और प्रेरणादायी परंपरा का प्रतिनिधित्व करती है।[44] यह केवल दो ऐतिहासिक पड़ावों के बीच की कड़ी नहीं है, बल्कि एक ऐसी वैचारिक धारा है, जो समय के साथ विकसित होती हुई आज भी सामाजिक न्याय, समानता और मानवीय गरिमा के लिए संघर्षरत है। इस दृष्टि से, यह यात्रा न केवल अतीत को समझने का माध्यम है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए एक मार्गदर्शक भी है, जो हमें एक अधिक न्यायपूर्ण, समतामूलक और मानवीय समाज के निर्माण की दिशा में प्रेरित करती है।[45]

निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि महात्मा ज्योतिराव फुले द्वारा प्रारंभ की गई *'सत्य'* की खोज केवल एक वैचारिक पहल नहीं थी, बल्कि वह भारतीय समाज में निहित अन्याय और असमानता के विरुद्ध एक व्यापक सामाजिक आंदोलन की नींव थी, जिसे आगे बढ़ाते हुए डॉ. भीमराव अंबेडकर ने *'धम्म'* के रूप में न केवल एक सशक्त नैतिक आधार प्रदान किया, बल्कि उसे सामाजिक और संवैधानिक मान्यता भी दिलाई। सत्यशोधक समाज ने जहाँ जातिवाद, अंधविश्वास और ब्राह्मणवादी वर्चस्व जैसी जड़ों में समाई विकृतियों को चुनौती देकर उन्हें उखाड़ने का कार्य किया, वहीं नवयान बौद्ध धर्म ने उस वैचारिक और सामाजिक रिक्तता को सम्मान, आत्मसम्मान, समानता और बंधुत्व—जैसे मानवीय मूल्यों से भर दिया, जिससे समाज के वंचित वर्गों को एक नई पहचान और गरिमा प्राप्त हुई। इस प्रकार, यह पूरी प्रक्रिया एक अखंड वैचारिक यात्रा के रूप में सामने आती है, जिसमें विचार, संघर्ष और परिवर्तन की निरंतरता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वर्तमान समय की सामाजिक क्रांति भी इसी ऐतिहासिक निरंतरता का परिणाम है, जहाँ अधिकार केवल संवैधानिक दस्तावेजों तक सीमित नहीं रह गए हैं, बल्कि वे व्यक्ति की चेतना, आत्मबोध और सामाजिक व्यवहार का अभिन्न हिस्सा बन चुके हैं, जो एक अधिक न्यायपूर्ण, समतामूलक और मानवीय समाज की दिशा में निरंतर अग्रसर है।

संदर्भ :

1. फुले, ज्योतिराव, *गुलामगिरी,* समता प्रकाशन, पुणे, 1873, पृ. 45—46.
2. वही, पृ. 23.
3. ओमवेट, गेल, *दलित और लोकतांत्रिक क्रांति,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 102.
4. वही, पृ. 89.
5. अंबेडकर, भीमराव, *जाति का उन्मूलन,* गौतम बुक सेंटर, नई दिल्ली, 1936, पृ. 12—13.
6. वही, पृ. 55—56.
7. वही, पृ. 68.
8. वही, पृ. 34—35.
9. झा, मृणाल, *भारतीय समाज और जाति व्यवस्था,* राजकमल प्रकाशन, पटना, 2015, पृ. 90—91.
10. शर्मा, रामविलास, *भारतीय समाज की संरचना,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ. 57.
11. कुमार, दीपक, *सामाजिक परिवर्तन के आयाम,* सेज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 120—121.
12. सिंह, योगेन्द्र, *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2004, पृ. 75—76.
13. वही, पृ. 141.
14. गुरु, गोपाल, *दलित विमर्श,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 34.
15. चंद्र, बिपिन, *भारत का स्वतंत्रता संग्राम,* पेंगुइन, नई दिल्ली, 1988, पृ. 211.
16. देशपांडे, सतीश, *भारतीय समाज,* ऑक्सफोर्ड, नई दिल्ली, 2003, पृ. 66—67.
17. बेतेइले, आंद्रे, *जाति, वर्ग और शक्ति,* ऑक्सफोर्ड, नई दिल्ली, 1965, पृ. 102.
18. ठाकुर, रामचंद्र, *भारतीय सामाजिक विचार,* बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2009, पृ. 54—55.
19. यादव, के.सी., *सामाजिक न्याय का इतिहास,* अंश प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ. 88.
20. मिश्रा, प्रभात, *दलित आंदोलन का इतिहास,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 99—100.
21. पांडेय, श्यामसुंदर, *भारतीय समाज में असमानता,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2007, पृ. 46.
22. दुबे, एस.सी., *भारतीय समाज,* नेशनल पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 1990, पृ. 73.
23. कोठारी, राजनी, *राजनीति और समाज,* ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 134—135.
24. नारायण, बद्री, *कांशीराम और बहुजन आंदोलन,* पेंगुइन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 50—51.

25. भारती, कंवल, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृ. 28–29.
26. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ. 42.
27. नागर, अमृतलाल, *मानस का हंस,* राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृ. 60–61.
28. कोठारी, राजनी, *पूर्वोक्त,* पृ. 83.
29. प्रसाद, जगदीश, *भारतीय संविधान और सामाजिक न्याय,* यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 2013, पृ. 116.
30. जाटव, डी.आर., *डॉ. अंबेडकर का सामाजिक दर्शन,* साहित्य भवन, आगरा, 2005, पृ. 77–78.
31. पासवान, रामविलास, *दलित राजनीति का उदय,* लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ. 39–40.
32. सिंह, योगेन्द्र, *पूर्वोक्त,* पृ. 59.
33. मेहता, डी.डी., *भारतीय समाजशास्त्र,* रावत प्रकाशन, जयपुर, 2010, पृ. 92–93.
34. शुक्ल, रामचंद्र, *चिंतामणि,* नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1952, पृ. 40–41.
35. दुबे, रामकृष्ण, *सामाजिक सुधार आंदोलन,* साहित्य भवन, दिल्ली, 2012, पृ. 65.
36. अग्रवाल, बी.एन., *भारतीय सामाजिक समस्याएँ,* साहित्य भवन, आगरा, 2008, पृ. 70–71.
37. कश्यप, सुभाष, *भारतीय संविधान,* नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2011, पृ. 151.
38. कुमार, रवि, *शिक्षा और समाज,* सेज प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. 44–45.
39. सेन, अमर्त्य, *विकास के रूप में स्वतंत्रता,* पेंगुइन, नई दिल्ली, 1999, पृ. 98.
40. नंदी, आशीष, *परंपरा और आधुनिकता,* ऑक्सफोर्ड, दिल्ली, 1995, पृ. 66–67.
41. प्रसाद, जगदीश, *पूर्वोक्त,* पृ. 83–84.
42. मिश्रा, विद्यानिवास, *भारतीय संस्कृति और समाज,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृ. 53.
43. सिंह, केदारनाथ, *आधुनिक भारत का इतिहास,* मैकमिलन, दिल्ली, 2003, पृ. 120–121.
44. यादव, सुरेन्द्र, *स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में सामाजिक चेतना,* भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1992, पृ. 90–91.
45. शुक्ल, रामचंद्र, *पूर्वोक्त,* पृ. 34.